भारतीय राजनीति का मार्क्सवादी उपागम

डॉ. राजन झा

राजनीति एक अपरिहार्य सार्वभौमिक गतिविधि है जिसके माध्यम से लोग सामान्य नियमों को संरक्षित और संशोधित कर उस नियम के अधीन रहते है। राजनीति एक निरंतर घटने वाली गतिविधि है. अपनी पुस्तक 'राजनीति' में अरस्तू ने कहा है कि 'मनुष्य स्वभाव से एक राजनीतिक पशु है। इसका आशय यह है कि एक राजनीतिक समुदाय के भीतर ही मनुष्य 'अच्छा जीवन' जी सकता है। इस दृष्टिकोण से राजनीति समाज बनाने के लिए एक नैतिक गतिविधि है; यही कारण है कि अरस्तू ने राजनीति को 'मास्टर साइंस' कहा है. वहीं डेविड ईस्टन ने राजनीति को 'मूल्यों के आधिकारिक आवंटन' के लिए एक कार्यवाही के रूप में माना है; हेरोल्ड लेस्वेल और रॉबर्ट डाहल ने राजनीति को 'शक्ति के प्रयोग में एक विशेष मामला' बताया है; और जीन ब्लोंडेल 'निर्णय लेने' के बिन्दु पर जोर देते हैं।

भारतीय राजनीति का अध्ययन एक महत्वपूर्ण और जटिल विषय है। भारतीय राजनीति की जटिलता का कारण समाज में नीहित अंतर्विरोध है. भारतीय राजनीतिक व्यवस्था रूढ़िवादी परंपराओं द्वारा बनाई गई हैं हालांकि देश में एक लोकतांत्रिक शासन प्रणाली है, फिर भी एक वास्तविक राजनीतिक व्यवस्था विकसित होनी बांकी है। भारत राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक विकास और परिवर्तन के दृष्टिकोण से एक महत्वपूर्ण प्रयोगशाला है। भारत एक स्थिर समाज है जो धीरे–धीरे ही सही परन्तु प्रगति कर रहा है।

राजनीति का अध्ययन कभी वस्तुनिष्ट नहीं होता, राजनीति का प्रत्येक छात्र किसी न किसी विचारधारा या उपागम के तत्वों का इस्तेमाल मूल इकाइयों के व्यवहारों को करने के लिए करता है। वह दृष्टिकोण जिन्हें हम अपने अध्ययन के लिए इस्तेमाल करते हैं उपागम कहलाते हैं इसी संदर्भ में भारतीय राजनीति के अध्ययन के तीन प्रमुख उपागम प्रचलित है। मार्क्सवादी उपागम, उदारवादी उपागम और गाँधीवादी उपागम, मार्क्सवादी उपागम का ही एक भिन्न रूप सबल्टर्न उपागम भी है, इस अध्याय में हम मार्क्सवादी उपागमों की चर्चा करेंगें।

मार्क्सवाद क्या है?

कार्ल मार्क्स (1818–1883) एवं फ्रेडरिक एंगेल्स (1820–1895) द्वारा प्रस्तुत विचारों एवं बाद के बहुत सारे विचारकों जैसे कि व्लादिमीर लेनिन (1870–1924) आदि के द्वारा समाज एवं राजनीतिक अर्थशास्त्र के विश्लेषण के तरीकों को हम संक्षेप में मार्क्सवाद कहते हैं, एमिली बर्न्स के अनुसार मार्क्सवाद हम जिस दुनिया में रहते हैं उसके बारे में एक सामान्य सिद्वांत है, मार्क्स और एंगेल्स मानव समाज के वर्तमान स्वरूप एवं उसके इस रूप में होने के कारणों तथा इसमें होने वाले बदलावों के कारणों की खोज अपनी लेखनी में करते हैं, वह बताते हैं कि मानव समाज आज जैसे है वह हमेशा वैसा नहीं था और मानव समाज में होने वाले परिवर्तन एक खास नियम के अनुसार होते हैं, ये नियम धार्मिक मान्यताओं, व्यक्तिगत विचारों तथा मानवीय मूल्यों आदि से स्वतंत्र हैं (बर्न एमिली 2012: 10), यह नियम द्वंदात्मक भौतिकवाद के नाम से जाना जाता है इसके अनुसार इतिहास में होने वाले सभी परिवर्तनों का मूल

समाज में उत्पादन की प्रक्रिया में होने वाले परिवर्तनों पर निर्भर करता हैं जो वर्ग संघर्ष पर आधारित होती है।

मार्क्स के अनुसार समाज मूलतः दो वर्गों में बटा होता है जिसमें ताकतवर वर्ग उत्पादन के साधनों पर नियंत्रण रखता है और जिस वर्ग के पास उत्पादन के साधनों पर नियत्रंण नहीं है उसका शोषण करता है, इस शोषण में राज्य भी ताकतवर का साथ देता है। दुनिया के इतिहास में अलग–अलग समयावधियों में अलग–अलग उत्पादन की प्रक्रिया का विकास कमजोर वर्गों द्वारा अपने शोषण के विरोध के कारण हुआ है, मार्क्स ऐसे विरोधों को क्रांति की संज्ञा देते हैं, उनके अनुसार प्रागैतिहासिक साम्यवाद से अब तक दासता, सामंतवाद और पूंजीवाद जैसी ऐतिहासिक दौरों का विकास क्रमशः शिकार एवं एकत्रीकरण, दास, कृषि और उद्योग जैसी उत्पादन प्रक्रियाओं पर हुआ है, हर नयी प्रक्रिया में उत्पादन के संबंधों में परिवर्तन होता है, चूकि प्रागैतिहासिक काल में निजी सम्पति नहीं थी, इसलिए इस समय सम्पूर्ण आर्थिक समानता थी, दासता के युग में समाज मूलतः दास एवं मालिक में, सांमती समाज में सामंत और कृषक में और अब इस पूंजीवादी दौर में सर्वहारा एवं बुर्जुवा में बंटा हुआ है जिनके बीच क्रमशः दास–मालिक, कृषक–मालिक एवं मजदूर–मालिक का सम्बन्ध बना।

मार्क्सवाद के अनुसार पूंजीवाद में सर्वहारा वर्ग का शोषण सबसे ज्यादा होता है, लेकिन पूंजीवाद कई ऐसी सामाजिक परिस्थितियां पैदा करता है जिसमें शोषित वर्गों में एक वर्गचेतना पैदा होती है, मार्क्स के अनुसार ये वर्गचेतना ही क्रांति की शुरूआत है, चुकि पूंजीपति लाभ के लिए काम करते हैं और उनमें आपस में प्रतिद्वन्द होता है इसलिए धीरे–धीरे पूंजीपतियों की संख्या घटती जाती है और धन का केन्द्रीकरण होता जाता है, उसी समय सर्वहारा की सख्या में वृद्धि होती है, ये सब क्रांति के लिए परिस्थितियां तैयार करती हैं, मार्क्स के अनुसार क्रांति के बाद एक समाजवादी सर्वहारा वर्ग की सरकार की स्थापना होगी जो सर्वहारा का अधिनायकवाद कहलाएगा, यह पूंजीवाद और साम्यवाद के मध्य एक संक्रमण का काल होगा जिसमें पूंजीवादी मूल्यों और संस्थाओं का नास कर एक समानता पर आधारित राज्य विहीन, वर्ग विहीन व्यवस्था की जाएगी, इस व्यवस्था में निजी सम्पति नहीं होगी और उत्पादन के साधनों पर पूरे समाज का नियंत्रण होगा (बर्न एमिली 2012:12–15).

कार्ल मार्क्स की सन् 1883 में मृत्यु के बाद लेनिन ने मार्क्सवाद में संगठन का यानी पार्टी के महत्व को स्थापित किया और बोल्शेविक पार्टी के नेतृत्व में रूस में सन् 1917 में पहली सर्वहारा क्रांति कर एक समाजवादी राज्य की स्थापना की, संक्षेप में मार्क्सवाद एक समाजवादी विचारधारा है जो समाज में आर्थिक असमानताओं का विरोध करता है और एक वर्गविहीन समाज की स्थापना करना चाहता है, यह राज्य को पूंजीपतियों द्वारा सर्वहारा के शोषण का एक साधन मानता है और इसीलिए राज्य का विरोधी है, कई मार्क्सवादी हालाँकि इस विचार से पूर्णतः सहमती नहीं रखते और राज्य के आंशिक स्वतंत्रता के विचार के समर्थक है।

मार्क्सवाद और राज्य

विकास के आधुनिक नाटक में राज्य एक केंद्रीय खिलाड़ी है, और तीसरी दुनिया के विकास में राज्य की महत्ता समझने के लिए हमें इसके इतिहास को समझना आवश्यक है, इसके अलावा राज्य की सामाजिक और राजनीतिक विशिष्टताओं के लिए हमें औपचारिक संरचनाओं से परे होकर इसका मूल्यांकन करने की आवश्यकता है।

आधुनिक राज्य को दो व्यापक रूपों में वर्गीकृत किया जा सकता है– उदार लोकतांत्रिक राज्य और अधिनायकवादी राज्य उदार लोकतांत्रिक राज्य लोकतंत्र की नींव पर खड़ा होता है, जहाँ शक्ति का निवास जनता में होती है इसका उपयोग और लोगों द्वारा चुने गए प्रतिनिधियों द्वारा की जाती है, अधिनायकवादी राज्य में राजनीतिक सत्ता राजनेता के एक समूह या सेना के कुलीन वर्गों के एक दल के हाथों में रहती है जो बल और धोखाधड़ी के माध्यम से अपने शासन को वैधता प्रदान करने का प्रयास करते हैं, एक अन्य प्रकार के राज्य को 'कल्याणकारी राज्य' के लोकप्रिय नाम से जाना जाता है। एकतावादी राज्य की चुनौती को पूरा करने के लिए कल्याणकारी राज्य की अवधारणा को

तैयार किया गया है।

भारत में राज्य की प्रकृति को समझने के लिए कई प्रयास किए गए हैं, हालांकि राज्य के गठन पर कोई तर्कसंगत दृष्टिकोण नहीं है, लेकिन मुख्य रूप से दो दृष्टिकोण भारतीय राज्यों की प्रकृति का वर्णन करते हैं, ये दृष्टिकोण उदारवादी और मार्क्सवादी हैं, उदारवादी दृष्टिकोण ने राज्य और राजनीतिक शक्ति को समझने की कुंजी के रूप में संस्था और प्रक्रियाओं पर जोर दिया, मार्क्सवादी सिद्धांतवादी राज्य की राजनीतिक अर्थव्यवस्था को महत्वपूर्ण कारक मानते हैं, वे पूर्ण वर्ग वर्चस्व में विश्वास करते है, उदारवादी सिद्धांतकार के अनुसार राज्य को समझने के लिए सरकार और संविधान की प्रकृति का विश्लेषण बहुत जरूरी है, उन्होंने इसे एक अध्ययन विधि के रूप में बताया है, यह पता करने की कोशिश होनी चाहिए कि संविधान कैसे कार्यान्वित होता है, यह भी देखना चाहिए कि राज्य द्वारा उपलब्ध कराए गए अधिकार सुरक्षित है या नही, यह सुनिश्चित करने की जरूरत है कि किस प्रकार यानी राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक अधिकार सुरक्षित हैं या नही,

भारतीय राज्य की प्रकृति को जानने के लिए हमें विभिन्न सामाजिक पहलुओं का विश्लेषण करना होगा। सामाजिक पहलुओं का अध्ययन करना महत्वपूर्ण हैं, संस्थागत संरचना के साथ सामाजिक आधार का अध्ययन करना महत्वपूर्ण है, आधुनिक राज्यों में इसके चिकित्सीय, जिम्मेदार और वैधता कार्यों के मामले में तीन आयामी विशेषताएं हैं,

भारत एक स्वतंत्र संप्रभु देश है जो अपनी नीतियां खुद तय करता है, भारत एक संसदीय लोकतांत्रिक गणराज्य है, भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में संसद, स्वतत्र न्यायपालिका, चुनाव प्रणाली, राजनीति दलों और लॉबी समूहों का स्थान प्रमुख हैं, इसके अलावा, उदारवादी संस्था और मौलिक अधिकार, राज्य नीति के निर्देश्श सिद्धांत, कानून का नियम, नागरिक स्वतंत्रता, प्रेस की स्वतंत्रता और धर्म आदि जैसे तत्व भारतीय संविधान की विशेषताएं है, संविधान निर्माताओं ने भारतीय संविधान में कल्याणकारी राज्य की अवधारणा को स्वीकार किया है, यह आर्थिक विकास का दावा करता है और न्यायसंगत वितरण पर बल देता है, भारतीय संविधान के प्रावधान के अनुसार, भारत एक संसदीय लोकतंत्र, संघीय राजनीति, कल्याण और धर्मनिरपेक्ष राज्य है, जैसा कि हमने कहा कि भारतीय राज्य की प्रकृति को जानने के लिए हमें अपने संस्थानों के सामाजिक आधार को समझना महत्वपूर्ण है।

मार्क्सवाद के अनुसार, राज्य शासक वर्ग के हाथों में एक साधन है जो आर्थिक रूप से शक्तिशाली है, शासक वर्ग उत्पादन के साधनों का मालिक है, भारत में सीपीआई और सीपीएम जैसे वाम दल मार्क्सवाद और साम्यवाद की विचारधारा रखते हैं, प्रारंभ में कम्युनिस्ट पार्टियों की भारतीय राज्य की प्रकृति शक्ति हस्तांतरण की समझ पर आधारित थी, 1950 से पहले, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टियों ने भारतीय राज्य को एक अर्द्ध–सामती और अर्ध–औपनिवेशिक राज्य के रूप में देखा, 1956 में, सीपीआई द्वारा भारतीय राज्य को ''मकान मालिक बुर्जुआ राज्य'' सीपीआई (एम) द्वारा भारतीय राज्य को ''पूंजीवादी मार्ग विकास की पूर्ति के लिए विदेशी वित्त पूंजी के साथ तेजी से सहयोग कर रहे बुर्जुआ वर्ग की भूमिका का अंग'' के रूप में परिभाषित किया गया, यह भारतीय राज्य की प्रकृति में वाम दलों के विचार हैं। लेकिन अकादमिक मार्क्सवादियों ने इसे अलग तरीके से देखने की कोशिश किए हैं, इसमें ए.आर.देसाई, रणधीर सिंह और सीपी भांबरी प्रमुख है, रणधीर सिंह लिखते है, ''अगर भारत की राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था इन चालीस वर्षों से गरीबों के खिलाफ थी, तो भारत को लोकतांत्रिक राज्य भी गरीबों के खिलाफ ही रहा है, भारतीय राज्य एक वर्ग के राज्य के रूप में अपनी यात्रा अब तक तय की है, सी.पी. भांबरी के अनुसार, ''शहरी और ग्रामीण क्षेत्रों के संपत्ति मालिकों ने आपस में गठबंधन बनाकर देश पर शासन करने के लिए और अपने हितों की सुरक्षा के लिए राजनीतिक व्यवस्था का इस्तेमाल किया है''।

मार्क्सवादियों के लिए, राज्य पर बाधाओं और पूंजीवादी परिवर्तन की समझ के लिए वर्ग गठन की जटिलता, वर्ग विन्यास और वर्ग कारवाई केंन्द्रीय तत्व हैं, यद्यपि आपस में मार्क्सवादियों के बीच इसका लेकर अलग–अलग

धारणाएं है परन्तु इस बहस में साम्राज्यवाद का अहम् स्थान है, अंतराष्ट्रीय पूंजीवादी व्यवस्था में राज्य का विश्लेषण अर्थव्यवस्था की लंबी अवधि के संरचनात्मक मजबूती और श्रम के विभाजन और गठबंधन व्यवस्था और राज्य में हावी होने वाले वर्ग गठंबधनों में बदलते संतुलन के रूप में किया जा सकता है, दो बातें ध्यान देने योग्य हैं राज्य का एक पूंजीपति वर्चस्व वर्ग समाज के वर्चस्व में परिलक्षित नहीं होता है।

दूसरा, एक सामूहिक गठबंधन के माध्यम से पूंजीवादी नियंत्रण का प्रयोग किया जाता है I वर्ग के संदर्भ में, सत्तारूढ़ गठबंधन में तीन तत्व होते थे, एकाधिकार पूंजीपति, अभिजात वर्ग और नौकरशाही प्रबंधकीय अभिजात वर्ग, 1975 में आपातकाल के बाद राज्य को बनाए रखने में दमनकारी शक्तियों की भूमिका पर तथा राज्य की सापेक्ष स्वायत्ता पर चर्चा हुई, बुर्जुआ शक्तियों द्वारा सिविल सोसाइटी पर अपना आधिपत्य स्थापित करने की अक्षमता पर भी चर्चा की गयी।

मार्क्स के अनुसार, राज्य शासक वर्ग के हाथ में एक शोषण का यन्त्र है, यह निजी सम्पत्ति की रक्षा के लिए और पूंजीपति वर्ग के लिए उसके पक्ष में कानूनों का निर्माण करता है, इसलिए मार्क्स साम्यवाद को राज्य विहीन व्यवस्था बनाना चाहते हैं, पारंपरिक रूप से मार्क्सवाद के भीतर राज्य को दमन या बल–प्रयोग से जोड़ा जाता रहा है, इटली के मार्क्सवादी चिंतक एंतोनियो ग्राम्शी ने मार्क्सवाद में एक नये विचार की शुरूआत की, उनके अनुसार शासक वर्ग सिर्फ दमन या बल – प्रयोग द्वारा अपना प्रभुत्व कायम नहीं रखता, इसके लिए वह विचारधारात्मक औज़ारों का भी प्रयोग करता है, वह बल–प्रयोग से ही अपना काम नहीं चलाता, बल्कि वर्चस्व की रचना भी करता है, वर्चस्व द्वारा शासक वर्ग उन वर्गों की सहमति हासिल करता है जिस पर उसे प्रभुत्व कायम रखना है, शिक्षा और जनसंचार माध्यम इसमें मदद करते है, इन्हें विचारधारात्मक राज्य–तंत्र की भी संज्ञा दी जा सकती है, ग्राम्शी ने स्पष्ट किया कि राज्य और शासक वर्ग कई दफ़ा शासित वर्गों की बहुत सी माँगों को स्वीकार करते हैं, शासितों को यह अहसास दिलाया जाता है कि राज्य के काम पूरी तरह उनके हित में ही है, इस तरह ग्रामशी ने राज्य के मार्क्सवादी विश्लेषण में एक नया आयाम जोड़ा,

फ्रांसीसी विद्धान् लुई अलथुसे (Loius Althusar) ने विचारधारात्मक राज्य–तंत्र और दमनकारी राज्य–तंत्र का विचार विकसित किया, अलथुसे संरचनावादी हैं, उन्होंने इस बात पर ज़ोर दिया कि विचारधारात्मक राज्य–तंत्र और दमनकारी राज्य–तंत्र दोनों ही शासक वर्ग के हितों के अनुरूप व्यवस्था बनाये रखने का काम करते हैं, ये दोनों साधन या तरीके अलग–अलग होने के बावजूद भी आपस में जुड़े हुए हैं, पहला, दमनकारी राज्य–तंत्र है, जिसमें कानून, न्यायालय, पुलिस, सेना और राज्य की दूसरी संस्थाएँ शामिल हैं, यदि कोई व्यक्ति राज्य के निर्देशों का पालन नहीं करता है तो उस पर जुर्माना लगाकर या उसे जेल भेजकर सज़ा दी जाती है, दूसरा विचारधारात्मक राज्य–तंत्र है जो ताकत की बजाय विचारधार के माध्यम से काम करता है, इसमें वे क्षेत्र शामिल हैं, जहाँ हम अपने व्यक्तिगत विचार और आजादी हासिल करते हैं और उनका प्रयोग करते हैं, अलथुसे स्पष्ट करते हैं कि दमनकारी राज्य–तंत्र सिर्फ बल–प्रयोग पर ही आधारित नहीं होता, बल्कि उसे भी विचारधारा की मदद लेनी पड़ती हैं, मसलन सेना, न्यायालय आदि भी एक स्तर पर किसी खास विचारधारा के अनुरूप ही काम करते हैं, इसी तरह विचारधारात्मक राज्य–तंत्र के अंतर्गत आने वाली संस्थाओं, चर्च, स्कूल आदि में सिर्फ विचारधारा का प्रयोग ही नहीं होता है बल्कि इसमें समय–समय पर बल प्रयोग भी किया जाता है (जैसे कि स्कूल में मिलने वाली सजा, चर्च द्वारा दी जाने धार्मिक सज़ा, चर्च द्वारा दी जाने धार्मिक सज़ा आदि),

अलथुसे वैचारिक राज्य–तंत्र में शिक्षा की भूमिका को काफी महत्वपूर्ण मानते हैं, ग्राम्शी के विपरीत वे इसे सिर्फ मानक मूल्यों, समाज की संकल्पना आदि के विकास से ही नहीं जोड़ते हैं, बल्कि उनका मानना हैं कि यह श्रम–विभाजन में संजीदा भूमिका अदा करता हैं, अर्थात् यह विशिष्ट श्रम के लायक बनाता है, बहरहाल, ग्राम्शी की

तरह अलथुसे भी मानते है कि कोई भी शासक वर्ग तभी अपना वर्चस्व कायम रख सकता हैं जब वह दमनकारी राज्य–तंत्र और विचारधारात्मक राज्य–तंत्र, दोनों पर अपना नियंत्रण रखे, ग्राम्शी की तरह ही वे भी मानते हैं कि विचारधारात्मक स्तर पर शासक वर्गों को चुनौती देना आवश्यक हैं, अलथुसे और ग्राम्शी के विचारों में कुछ समानताएँ होने के बावजूद यह स्पष्ट है कि अलथुसे ने संरचनावादी के रूप में अपने विचार व्यक्त किये और व्यक्ति की बजाय संरचनाओं की भूमिका को ज्यादा तरजीह दी, उन्होंने प्रस्तावित किया कि मार्क्स की उत्पादन प्रणाली की अवधारणा में तीन विशिष्ट संरचनाएं या स्तर होते हैं (आर्थिक, राजनीतिक और विचारधारात्मक), ये तीनों नजदीकी रूप से और आंतरिक तौर पर जुड़ कर उत्पादन प्रणाली की मैट्रिक्स का निर्माण करते हैं, किसी सामाजिक व्यवस्था में आर्थिक, राजनीतिक और विचारधारात्मक में से कोई भी प्रभुत्वशाली राजनीतिक संरचना हो सकती है, लेकिन आर्थिक संरचना हमेशा यह तय करती है कि इन तीनों में से कौन सबसे प्रभुत्वशाली होगा।

निकोलस पोलांत्साज जो एक फ्रांसिस मार्क्सवादी विचारक है ने अलथुसे द्वारा मार्क्स की संरचनावादी व्याख्या का प्रयोग राज्य के अध्ययन के लिए किया, यह भी उल्लेखनीय है कि पोलांत्साज़ की पहली रचना और दूसरी रचना के बीच में उनके विचारों में बदलाव आया, उनकी पहली किताब पॉलिटिकल पॉवर ऐंड सोशल क्लासेज़ 1968 में प्रकाशित हुई थीं और दूसरी स्टेट पॉवर ऐंड सोशलिज़म 1978 में, पहली किताब पूरी तरह से संरचनावादी थी इसमें राज्य वर्ग–संरचना का पुनरूत्पादन करता दिखाया गया है, क्योंकि यह राजनीतिक क्षेत्र में आर्थिक वर्ग संबंधों की अभिव्यक्ति होता हैं। इसलिए राज्य का स्वरूप और कार्य वर्ग संबंधों की संरचना से तय होता हैं, अपने इस शुरूआती काम में पोलांत्साज़ यह भी तर्क हैं कि हीगेलवादी आदर्श की तरह कोई सर्वसमावेशी और समयातीत राज्य नहीं होता है, विशिष्ट उत्पादन प्रणाली के अनुसार ही राज्य भी होता है, जैसे कि पूँजीवादी राज्य, सामंती राज्य आदि, इसके अलावा अपनी इस किताब में वे अलथुसे के इस विचार का भी प्रयोग करते हैं कि राजनीति और अर्थशास्त्र को 'सापेक्षिक स्वायत्तता' (रिलेटिव ऑटोनॉमी) मिली होती है, इसकी मदद से वे तर्क देते हैं कि पूँजीवादी राज्य वर्गीय राज्य हैं और निश्चित तौर पर इसे प्रभावकारी तरीके से काम करने के लिए उत्पादन में होने वाले वर्ग–संघर्ष से सापेक्षिक रूप से स्वायत्त होना चाहिए, इस तर्क के अनुसार पूँजीपति वर्ग कई धड़ों में बँटा होता हैं और इनमें से जिस समूह का वर्चस्व है, उसके संगठन के रूप में सापेक्षिक रूप से स्वायत्त राज्य एक ऐसे स्थान के रूप में होता हैं, जो कई धड़ों में बँटे पूँजीपति वर्ग के वर्चस्व वाले समूह के संगठन के रूप में होता है, मजदूरों का संघर्ष केवल उसी सीमा तक राज्य को प्रभावित करता हैं, जिस सीमा तक वह उत्पादन में वर्ग–संबंधों का भाग होता है (बोत्तोमोरे, टॉम 1991: 26–38).

पोलांत्साज़ के इस लेखन की बहुत सारे स्तरों पर आलोचना हुई, इस संदर्भ में न्यू लेफ्ट रिव्यू में, 1969–70 में रॉल्फ़ मिलिबैंड और पोंलात्साज़ के बीच हुए वाद–विवाद का मार्क्सवाद के भीतर महत्वपूर्ण स्थान है, मिलिबैंड ने 1969 में प्रकाशित अपनी किताब द स्टेट इन कैपिटलिस्ट सोसायटी में पोलांत्साज़ द्वारा प्रस्तुत राज्य के बहुलवादी मॉडल की आलोचन की, इसमें उन्होंने पूँजीवादी वर्ग–समाज में राज्य की भूमिका के बारे में मार्क्सवादी विचार का अपना संस्करण पेश किया, अमूमन मिलिबैंड के नज़रिये को यांत्रिकवाद (इंस्ट्रूमेंटलिज़म) और पोलांत्साज़ के नजरिये को संरचनावाद (स्ट्रक्चरलिज़म) की संज्ञा दी जाती है (हेल्ड, डेविड 1988:67–73).

मिलिबैंड पोलांत्साज़ द्वारा प्रस्तुत बहुलवादी मॉडल की आलोचना करते हुए कहते हैं कि पूँजीवादी वर्ग के सदस्यों की राज्य–तंत्र और सरकार में सीधी भागीदारी होती हैं, इस कारण राज्य बूर्ज्वा हितों से सीधे बंधा होता है और उन्हीं हितों को अभिव्यक्त करता है, पोलांत्साज़ ने इसकी आलोचना करते हुए कहा कि बूर्ज्वा वर्ग और राज्य के बीच वस्तुनिष्ठ संबंध होता हैं, इसका अर्थ यह है कि यदि राज्य के कार्य सामाजिक व्यवस्था को तय करते हैं और इस सामाजिक व्यवस्था में प्रभुत्वशाली वर्ग का हित राज्य के हितों से मिलता हैं, तो यह इस व्यवस्था का एक हिस्सा बन जाता हैं, ऐसे में शासक वर्ग के सदस्यों की राज्य–संयंत्र में सीधी भागीदारी इस वस्तुनिष्ठता का कारण

नहीं होती हैं, बल्कि इसका प्रभाव होता हैं, इसके जवाब में मिलिबैंड ने यह तर्क दिया कि शासक वर्ग की अवधारणा की जगह वस्तुनिष्ठ संरचना और वस्तुनिष्ठ संबंधों की अवधारणा लाने का मतलब यह है एक खास तरह का 'संरचनात्मक निर्धारणवाद' या 'संरचनात्मक अति निर्धारणवाद' लाना, इन दोनों के बीच चली इस बहस के संदर्भ में मार्टिन कॉरनॉय ने यह तर्क दिया है कि असल में दोनों के ही लेखन में यांत्रिक या निर्धारणवादी प्रवृत्तियाँ मौजूद हैं, इसलिए किसी एक को यांत्रिकवादी और दूसरे को संरचनावादी कहना ठीक नहीं हैं,

बहराल, इस वाद–विवाद और दूसरे कई तरह के विचारों के सामने आने के बाद पोलांत्साज़ ने अपने विचारों में थोड़ा संशोधन किया, अपने बाद के काम में पोलांत्साज़ ने संरचनावादी राज्य के विचार को छोड़ दिया, इसकी जगह, उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि राज्य का स्वरूप खुद वर्ग–संघर्ष द्वारा तय होता है, 1973 में पोलांत्साज़ ने यह तर्क दिया कि सामाजिक वर्गों और राज्य के बीच अलग तरह का संबंध होता है, जो कि पूँजीवादी विकास के चरण पर निर्भर करता है, इसलिए पूँजीवादी उत्पादन संबंधों में बदलाव राजनीतिक संस्थाओं के स्वरूप को तय करता हैं, पूँजीवादी राज्य की 'संरचना' कोई 'संरचना' नहीं होती है, इसके बजाय, यह संरचनाएँ वर्ग–संघर्ष और इसके कारण पूँजीवादी उत्पादन में होने वाले बदलावों से तय होती हैं स्टेट पॉवर ऐंड सोशलिज़म में वे राज्य की ''सापेक्षिक स्वायत्तता को द्वंद्वात्मक बना देते हैं, इस दलील के मुताबिक राज्य–तंत्रों के भीतर वर्ग–संघर्ष की सम्भावना होती है क्योंकि 'स्वायत्तता' के भीतर ही विरोधाभास निहित होता है, उन्होंने इस बात पर ज़ोर दिया कि ये विरोधाभास और सामाजिक आंदोलन राज्य का स्वरूप तय कर रहे हैं (हेल्ड, डेविड 1988:73–76)

मिलिबैंड–पोलांत्साज़ वाद–विवाद ने उत्तर–औपनिवेशिक पूँजीवादी–लोकतांत्रिक राज्यों में राज्य के विश्लेषण का नया आयाम खोला मसलन, भारत में कई विद्वानों ने राज्य की सापेक्षिक स्वायत्तता को आधार बनाकर भारतीय राज्य की प्रकृति का विश्लेषण करने की कोशिश की, उल्लेखनीय है कि सोवियत संघ के पतन के बाद कई मार्क्सवादी पार्टियाँ राज्य के प्रति दोहरा रवैया अपना रही हैं, एक ओर वे राज्य के नव–उदारवादी एजेंडे और उसके बढ़ते दमनकारी स्वरूप का विरोध कर रही हैं, वहीं दूसरी और उनका इस बात पर ज़ोर है कि राज्य गरीबों और हाशिये के समूहों की भलाई के लिए सक्रियता से काम करें, यह कहा जा सकता हैं कि सैद्वांतिक स्तर पर मार्क्स–एंगेल्स और लेनिन ने एक समय के बाद राज्य के धीरे–धीरे खत्म हो जाने की कल्पना की थी, लेकिन क्रांति के बाद सोवियत यूनियन और चीन जैसे राज्यों में क्रांति को सुरक्षित रखने में राज्य की महत्वपूर्ण भूमिका को स्वीकार किया गया बाद के दौर में मार्क्सवाद के भीतर राज्य में विभिन्न समूहों की भूमिका, राज्य द्वारा शोषित या सर्वहारा समूहों को नियंत्रित करने की तकनीक और राज्य के स्वायत्त होने की सम्भावनाओं पर भी गम्भीरता से विचार–विमर्श होता रहा हैं (हेल्ड, डेविड 1988:56–73).

भारतीय स्वतंत्रता पर मार्क्सवादी विचार

भारत के इतिहास लेखन की मुख्यतः चार विचारधाराएं है इनमें से प्रत्येक ने अपने दृष्टिकोण से राष्ट्रीय आंदोलन एवं स्वतंत्रता के बाद भारतीय राज्य का अलग–अलग विश्लेषण किया है, इन विचारधाराओं को क्रमशः साम्राज्यवादी, राष्ट्रवादी, मार्क्सवादी और सबलटर्न का नाम दिया जाता है। यहाँ हम सिर्फ मार्क्सवादी विचारों की चर्चा करेंगे,

साम्राज्यवादी इतिहासकारों का समूह जिसे हम उपनिवेशवादी इतिहास उपागम भी कहते हैं भारत में आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक और सांस्कृति संरचना के तौर पर उपनिवेश्वाद के अस्तित्व को नकारता है, उनके लिए उपनिवेशवाद सिर्फ विदेशी शासन था जिसने भारत को एक राजनीतिक इकाई बनाया तथा यहाँ आधुनिकता की नीव डाली, उनके लिए भारत एक राष्ट्र नहीं था और न ही वह एक राष्ट्र बनने की प्रक्रिया में था जब स्वतंत्रता की लड़ाई हुई इन इतिहासकारों का मानना है कि भारत एक राष्ट्र है ही नहीं, यह वास्तव में विभिन्न धर्मों, जातियों, समुदायों आदि का समूह हैं, साम्राज्यवादी इतिहासकारों में लार्ड कर्ज़न, डफरिन और मंटो के नाम प्रमुख हैं (थापर,

रोमिला 2000: 1 –10)

दूसरा, राष्ट्रवादी इतिहासकारों की दृष्टि में राष्ट्रीय आंदोलन में जनता की भागीदारी बहुत प्रभावपूर्ण एवं स्वाभाविक थी क्योंकि मूलतः सभी भारतीयों के हित सदैव विदेशी सत्ता के प्रतिकूल ही थे, केवल एक चमत्कारी नेता की कमी थी, लेकिन यह कहना आवश्यक है कि इतिहास–लेखन की एक प्रवृत्ति के रूप में स्वतंत्रता आंदोलन पर राष्ट्रवादी लेखन कुल मिलाकर अपर्याप्त ही रहा, राष्ट्रवादी आंदोलन के बारे में लिखने का काम लाला लाजपत राय, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, आर. जी प्रधान, सुभाषचंद्र बोस, पट्टाभिसीतारमैया, सी.एफ.एंडूज और गिरिजा मुखर्जी ने किया,

सबलटर्न इतिहास अर्थात ''इतिहास को नीचे से देखने की'' अवधारणा का जन्म मार्क्सवाद के भीतर 1960 के दशक में दीपेश चक्रवर्ती आदि ने की, यह भारतीय राज्य को देखने का तीसरा महत्वपूर्ण तरीका है, इसमें इतिहास का अध्ययन और राज्य के शासक वर्गों की आलोचना इस आधार पर की जाती है कि इसमें आम लोगों को कितना महत्व दिया गया है, ये उपागम राजनीतिक और अन्य नेतृत्व पर ध्यान नहीं देते बल्कि साधारण लोगों के परिप्रेक्ष्य पर फोकस करते हैं काफी लम्बे समय तक इतिहास वही माना जाता था जिसमें शक्तिशाली, प्रसिद्ध और धनवान लोगों की बात होती थी, यह 'ऊपर से इतिहास' जैसी बात थी, जिसमें साधारण लोगों द्वारा किये जाने वाले कामों को महत्व नहीं दिया जाता था, 1980 के दशक में भारत के इतिहास लेखन पर सब्लटर्न अध्ययन का प्रभाव जोर–शोर से शुरू हुआ, राष्ट्रीय आंदोलन में सर्वहारा, किसान, स्त्री, आदिवासी तथा दलितों की भूमिका का विस्तारपूर्वक अध्ययन किया जाने लगा राज्य की शासन प्रणाली में इनकी भूमिका राज्य के लोकतंत्र को मजबूत बनाती हैं यह भी इस उपागम ने स्थापित करने प्रयास किया इस विचारधारा के प्रमुख लेखक दीपेश चक्रवती, सुमितसरकार, रणजीत गुहा, ज्ञानेंद्र पांड और शाहिद अमीन हैं।

इस अध्याय में हम मार्क्सवादी सम्प्रदाय की विशेष चर्चा करेंगे, मार्क्सवादी इतिहासकारों ने भारतीय राष्ट्रवाद के वर्गीय चरित्र का गहराई से अध्ययन किया और यह तर्क दिया कि भारत में राष्ट्रवाद यहॉ पर पूँजीवाद के उदय पर निर्भर था, इन इतिहासकारों ने राष्ट्रीय आन्दोलन के वर्गीय स्वरूप की पहचान एक पूँजीवादी उभार के तौर पर की और इनके और सामंती वर्गों के बीच के सांठ–गाँठ को उत्तर औपनिवेशिक भारतीय राज्य के शासक वर्ग के तौर पर माना (पाम, दत्त रजनी 1949:12). पूँजीवादियों ने ना सिर्फ भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन को अपने वर्गीय हितों के अनुसार संचालित किया बल्कि आज़ादी के बाद भारतीय राज्य का इस्तेमाल अपने हितों की रक्षा करने के लिए भी किया, रजनी पाम दत्त के अनुसार भारत के स्वतंत्रता आन्दोलन का नेतृत्व करने वाली कांग्रेस पूरी तरह से उच्च वर्गों के द्वारा नियंत्रित रही (पाम, दत्त रजनी 1949:27). रजनी पाम दत्त के अलावा ऐ.आर.देसाई, स.न. मुखर्जी, पार्था चटर्जी, सुमित सरकार, सुदीप्ता कविराज आदि ने भारतीय राज्य के वर्गीय चरित्र पर बहुत कुछ लिखा है।

रजनी पाल दत्त अपनी पुस्तक इंडिया टुडे में भारतीय राष्ट्रवाद की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि ''भारतीय राष्ट्रवाद ब्रिटिश शासन की संतान हैं'', भारतीय राष्ट्रवाद का ऐतिहासिक विकास तीन चरणों में हुआ और ये प्रत्येक चरण पहले से ज्यादा गहरे और लोकप्रिय रहे, इसके पहले चरण में केवल बड़े पूँजीपति वर्ग ने इसका प्रतिनिधित्व किया जिसमें जमींदारों के प्रगतिशील तत्व, नए औद्योगिक पूँजीपति और अमीर बुद्धिजीवी वर्ग शामिल थे, यह हालात 1914 के पहले के वर्षों तक जारी रहा, 1914 के बाद में पहली बार देश में बड़े पैमाने पर न सिर्फ ब्रिटिश सरकार के खिलाफ बल्कि देशी उद्योगपतियों के खिलाफ भी असंतोष का जन्म हुआ। इसमें शहरों में रहने वाले निम्न पूँजीपति वर्ग का अंसतोष व्यक्त हुआ लेकिन वह आम जनता तक नहीं पहुँच सका, प्रथम विश्व युद्ध (1914–1918) के बाद यह साफ होने लगा कि राष्ट्रीय आन्दोलन में किसानों और मजदूरों की भूमिका निर्णायक होगी इसके बाद जनसंघर्षों की दो बड़ी लहरें आईं पहली लहर युद्ध के तत्काल बाद के में और दूसरी लहर विश्वव्यापी आर्थिक संकट के बाद,

इस प्रकार भारत का राष्ट्रीय आंदोलन यहाँ की सामाजिक परिस्थितियों से, साम्राज्यवाद की परिस्थितियों और उस की शोषण प्रणाली से पैदा हुआ, वह उन सामाजिक एवं आर्थिक शक्तियों से पैदा हुआ जो शोषण के कारण भारतीय समाज में उत्पन्न हुई (देसाई, ए आर 1948:1–13), उसके पैदा होने के कारणों में भारत में पूँजीवाद वर्ग का उदय सबसे महत्वपूर्ण हैं।

ए.आर.देसाई के अनुसार भारतीय राष्ट्रवाद एक संगठित आन्दोलन के रूप में उन्नीसवीं सदीं के अंतिम दशकों में विकसित हुआ इसके प्रथम अंकुर 19वीं सदी के प्रारम्भ में भी दृष्टिगोचर होते हैं, प्रबुद्ध बुद्धिजीवियों, जो ज्यादातर हिन्दू थे, ने अंग्रेजों द्वारा लाई गयी आधुनिक शिक्षा पायी, इस शिक्षा के माध्यम से इस वर्ग में पश्चिमी प्रजातान्त्रिक मूल्यों का ज्ञान हुआ जो बाद में भारतीय लोकतंत्र का आधार बना आजादी के बाद भारत में इन्ही मूल्यों पर आधारित राज्य की स्थापना

भारतीय राज्य

भारतीय राज्य का आशय स्वतंत्र भारत यानि 1947 से हैं, देश की आजादी के बाद 1950 में भारतीय गणराज्य की स्थापना होती है, भारतीय सविंधान और इसकी प्रस्तावना स्पष्ट करती है कि भारत एक स्वतंत्र, संप्रभु, लोकतान्त्रिक राज्य है, विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका के शक्तियों में पृथकीकरण है, वयस्क मताधिकार से जन प्रतिनिधियों का चुनाव होता हैं तथा संघीय ढांचा से देश को चलाया जाता है, राज्य का संविधानिक प्रमुख राष्ट्रपति होता है जो अप्रत्यक्ष रूप से चुना जाता हैं परन्तु भारत में शासन की संसदीय प्रणाली अपनाई गयी, बहुदलीय व्यवस्था द्वारा नागरिक अपने लोकतान्त्रिक अधिकारों का प्रयोग करके अपने जनप्रतिनिधियों का चुनाव करते हैं, आम जनता को बिना किसी भेदभाव के मौलिक अधिकार प्रदान किए गए हैं, इन मौलिक अधिकारों में अन्य बातों के अलावा बोलने की स्वंतत्रता और संघ बनाने की तथा धार्मिक स्वतंत्रता अहम् है, राज्य की जिम्मेदारी है कि वह अपने इन कर्तव्यों की निष्पक्षता से पालन करें, ऐतिहासिक रूप से शोषित–समूहों को संविधानप्रद विशेष–अधिकार प्राप्त हैं जिसे भारत में आरक्षण कहा जाता है।

राजनीतिक अर्थव्यवस्था परिप्रेक्ष्य (पॉलिटिकल इकॉनमी एप्रोच):

जैसा कि उदारवादी विचारक मानते हैं कि राजनीतिक व्यवस्था मानव संपर्क की परिस्थिति जैसे सामाजिक, आर्थिक और धर्म के अंतर्गत काम करती हैं, राजनीति का अध्ययन केवल संविधान और राजनीतिक संस्था के अंतर्गत सीमित नहीं होना चाहिए, संविधान और राजनीतिक संस्थाओं का अध्ययन अपर्याप्त हैं, भारतीय राज्य की मुख्य आलोचना नव–शास्त्रीय (निओ क्लासिकल) अर्थशास्त्री करते हैं– जो आर्थिक विकास में राज्य की भूमिका से चिंतित हैं, जे. भगवती और टी.एन.एन. श्रीनिवासन ने बताया है कि किस प्रकार नियोजन और आयाता प्रतिस्थापन के संयोजन की रणनीति के कारण भष्टाचार, अक्षमता और विकृतियों से भरा उच्च–लागत वाली अर्थव्यवस्था में तब्दील हुई, औद्योगिक क्षमता पर नियोजन, क्षेत्रीय विविधीकरण और नियंत्रण के तर्क ने कई ऐसे नियंत्रण बनाए जिन्हें नौकरशाही और राजनीतिक अभिनेता अपने लाभ के लिए उपयोग कर सकते हैं, इसके अलावा, सार्वजनिक क्षेत्र के पेशेवरों ने अपने आप को एक प्रमुख स्वामित्व वर्ग के रूप में विकसित किया है, राजनीतिक वैज्ञानिक आर्थिक विकास से ज्यादा राजनीतिक व्यवस्था और लोकतंत्र की प्रकृति से चिंतित हैं।

इन आलोचनाओं का जवाब देने के लिए, राजनीतिक अर्थव्यवस्था भारत में विकास के डिस्कोर्स के रूप में उभर कर सामने आयी, राजनीतिक अर्थव्यवस्था के अनुसार राज्य योजनाओं और नीतियों के बीच मध्यस्थ की भूमिका निभाता है, राज्य एक नियंत्रक प्राधिकरण है जो सभी विकास प्रक्रियाओं में हस्तक्षेप करता हैं फ्रैंकेल कहते हैं कि भारत की सार्वजनिक शक्ति ''सामंजस्यपूर्ण राजनीति और कट्टरपंथी सामाजिक परिवर्तन का विरोधाभास'' है भारत की मध्यमार्गी राजनीति अर्थव्यवस्था और राजनीति के अलग–अलग हिस्सों के बीच संतुलन बनाए रखती है, भारत की

अर्थव्यवस्था कृषि से भी प्रभावित होती है, **गुन्नार मिरदल ने इसे 'सॉफ्ट स्टेट'** के रूप में वर्णित किया, जो निहीत स्वार्थ के कारण समतावादी समाज को हासिल करने में असफल रहा, रजनी कोठारी ने भी भारत को एक **'नरम राज्य'** की संज्ञा दी है।

स्वातंत्रयोत्तर भारतीय राजनीति और मार्क्सवाद

आजादी के प्रथम दशक में भारतीय राज्य की नीतियों को मूल्यांकन करने पर मार्क्सवादी विचारकों ने ये पाया कि यह राज्य अर्द्धसामंती और अर्द्धपूँजीवादी शासक वर्ग के नियंत्रण में हैं (कविराज सुदीप्ता 1989:02–09). राज्य द्वारा मिश्रित अर्थव्यवस्था का अपनाया जाना जिसमें पूँजीपति वर्ग ही राज्य की बाजार में भूमिका की मांग करता है ये साबित करता है कि पूँजीपति भारत में पूरी तरह आत्मनिर्भर नहीं हैं और उन्हें अपने विकास के लिए राज्य के सहयोग की जरूरत है (विनायक अचिन 1990:11). इसी राज्य ने जब भूमि सुधार के कानूनों को लागू करने में असमर्थता जताई तो इसके सामंती चरित्र का भी पता चला, भारत की कम्युनिस्ट पार्टी ने अपने कार्यक्रम में भारतीय राज्य के इस चरित्र का उल्लेख कर एक लोकप्रिय क्रांति का अहवान किया, इसी का नतीजा थी कि 1950 के दशक में तेलंगाना और बंगाल में क्रांतिकारी आन्दोलनों का नेतृत्व कम्युनिस्ट पार्टी ने किया, 1960 के दशक में देश के विभिन्न हिस्सों में सामंती जमींदारी व्यवस्था के खिलाफ भी कम्युनिस्ट दलों ने अलग–अलग आन्दोलनों का नेतृत्व किया जिसमें जमीन का मालिकाना जोतेदारों को दिलाने पर जोर था, जब मुख्य कम्युनिस्ट दल चुनाव जीत कर सत्ता में आये तो उनसे अलग होकर कुछ नेताओं ने नक्सलबाड़ी हथियारबंद आन्दोलन की शुरूआत की,

भारत के राज्य द्वारा किये गए आर्थिक एवं सामाजिक सुधारों को मार्क्सवादी एक तरह का **पैसिव रिवोल्यूशन** मानते हैं, उनके अनुसार ये तथाकथित सुधार सर्वहारा वर्ग के अन्दर उठ रहे क्रांतिकारी भावों को दबाने के प्रयास हैं, 1960 के दशक में इंदिरा गाँधी द्वारा प्रिवी पर्स को खतम करके एवं बैंकों के राष्ट्रीयकरण के खिलाफ देश में जो राजनीतिक आन्दोलन चले मर्क्वादियों के अनुसार वो इसका उदाहरण हैं कि भारतीय शासक वर्ग सर्वहारा के हित के बिलकुल ही खिलाफ है और राज्य के द्वारा अपनी हितों पर किये जाने वाले हमलों को बिलकुल बर्दास्त नहीं कर सकता (चंद्रा, बिपिन 2003:14–26). इसी तरह सन् 1990 के आर्थिक सुधारों को मार्क्सवादी भारतीय पूँजीपति वर्ग के अन्दर के आत्मविश्वास के जन्म से जोड़कर देखते हैं, उनके अनुसार आजादी के तुरंत बाद की स्थिति जिसमें पूँजीपतियों को राज्य के मदद की आवश्यकता थी से लेकर 1990 तक पूँजीपतियों ने बहुत विकास किया और जब उनको लगा कि उनके और अधिक विकास को राज्य की उपस्थिति से खतरा है तो उन्होंने राज्य के न्यूनतम होने की नव–उदारवादी व्यवस्था को अपना लिया।

मार्क्सवादी विचारों के अनुसार, भारत में ज्यादातर राजनीतिक दल पूँजीपतियों या सामंती वर्गों द्वारा नियंत्रित हैं, चुनाव ज्यादातर भावुक मुद्दों पर जैसे जाति, धर्म और राष्ट्र आदि पड़ लड़ा जाता हैं, इनकों जीतने के लिए अरबों रूपयें पानी की तरह बहाए जाते हैं और जीतने के बाद ज्यादातर सरकारें पूँजीपतियों और सामंतों को हित साधती है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि भारतीय राज्य के बारे में मार्क्सवादियों की राय है कि ये एक ऐसे राष्ट्रवादी आन्दोलन की उपज है जो पूँजीपतियों और सामंतो द्वारा नियंत्रित रहा और आजादी के बाद भारतीय राज्य इन्हीं दो वर्गों के हितों की रक्षा कर रहा हैं, इस राज्य द्वारा बनायी गयी ज्यादातर नीतियां इस बात की गवाही देती हैं कि सर्वहारा का हित इसकी मुख्य चिंता नही हैं इनके अनुसार भारतीय लोकतंत्र एक अधूरा लोकतंत्र हैं जिसमें सिर्फ पूँजीपतियों और सामंतों को चुनाव लड़ने और जितने का अवसर मिलता हैं, चुनाव में लोगों के जरूरी मुद्दों रोटी, कपड़ा और मकार, शिक्षा आदि की जगह धर्म और जाति आदि का बोलबाला होता है तथा बड़े पैमाने पर गांवों में सामंती संबंधों के कारण एक सर्वहारा अपने हितों के विरूद्व जाकर अपने शोषकों को ही अपना शासक चुन लेता हैं

इसीलिए उदारवादी लोकतंत्र में या तो आमूल–चूल परिवर्तन होना चाहिए या एक सर्वहारा की क्रांति,

आलोचनात्मक समीक्षा

मार्क्सवाद को लेकर बहुत तरह की आलोचनाएं की जाती हैं, सबसे सामान्य आलोचना मार्क्स द्वारा भौतिकता को बौद्धिकता के ऊपर रखने को लेकर की जाती है, आर्थिक निर्धारणवाद को कई तरह से एक अप्रयाप्त उपागम माना जाता है, कई विचारकों के अनुसार मार्क्सवादियों द्वारा संस्कृति, विवेक, भावना इत्यादि को अनदेखा करना एक तरह का रीडक्सनिज्म (Reductionism) है, मार्क्सवाद के खिलाफ एक आलोचना इसके सामाजिक संघर्ष को सामाजिक समरसता के ऊपर महत्व देने को लेकर भी की जाती है, हिंसा की अनिवार्यता और विवाद के प्रति गैर आलोचनात्मक रूख कई विचाराकों के अनुसार मानवता के खिलाफ है, ये पूँजीवाद और पूँजीवादी व्यवस्था को कम कर आंकने के तरफ भी इशारा करता है।

भारत के इतिहास के अध्ययन के एक उपागम के तौर पर मार्क्सवाद के खिलाफ की गयी सामान्य आलोचना के अलावा भारतीय समाज की कुछ मूलभूत समस्याओं को अनदेखा करने का भी आरोप लगाया जाता है, मुख्यतः जाति व्यवस्था को लेकर और वर्गों की महत्ता को लेकर मार्क्सवादियों की समझ को कुछ मार्क्सवादी स्वीकार भी करते हैं, भारत में दलित और महिला आन्दोलनों की एक शिकायत मार्क्सवादीयों से यही रही हैं कि ये जाति और लिंग के प्रश्नों को अर्थ के प्रश्नों से कमतर आंकते हैं और इसिलए मार्क्सवाद की जड़े भारत में गहरी नहीं जम पाई हैं।

राज्य के नेतृत्व वाली पूँजीवाद से बाजार आधारित पूँजीवाद में परिवर्तन भारतीय राज्य और आर्थिक नीति का सबसे महत्वपूर्ण बदलाव हैं, आंतरिक और बाहरी दबावों के संयोजन के उत्तर में अपनाया गया नव–उदारवादी एजेंडे ने 1990 के प्रारम्भ से अर्थव्यवस्था के साथ राज्य का निर्णायक रूप से बदल दिया था।

इन परिवर्तनों के अधीन रहने वाले केंन्द्रीय दृष्टिकोण में बाजार तंत्र पर अधिक निर्भरता शामिल थी और यह कई नीतियों में शामिल है, जिसमें नियामक नियंत्रण और सरकारी नियंत्रण में कमी, आयात का असहनीय प्रोत्साहन, निजी निवेश की अधिक अर्थव्यवस्था, सार्वजनिक क्षेत्र पर जोर देना और खोलन अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए अर्थव्यवस्था उदारीकरण नीतियों की शुरूआत ने प्रतिस्पर्धात्मक बाजारों और विकास में राज्य के हस्तक्षेप का पुनः विश्लेषण किया है।

इस आलोचना और अन्य दूसरी आलोचनाओं के बावजूद भी भारत की मौजूदा आर्थिक नीति को देखते हुए मार्क्सवाद ने भारतीय इतिहास और समाज को समझने में बहुत मदद की है, मार्क्सवाद के भीतर से सबलटर्न उपागम का जन्म इस बात को दर्शाता है कि मार्क्सवादियों ने अपनी आलोचनाओं को गंभीरता से लिया और अपनी कुछ कमियों को दूर करने का प्रयास भी किया।

***गेस्ट फैकल्टी**
आत्मा राम सनातन धर्म कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय

सन्दर्भ सूची

1. थापर, रोमिला (2000), ''इंटरप्रिटेशन ऑफ कोलोनियल हिस्ट्रीः कोलोनियल, नेशनलिस्ट, पोस्ट कोलोनियल'' इन पीटर रोनाल्ड देसौजा (सम्पादित), कांतोपोरारी इंडिया इन ट्रांजिशन, दिल्लीः सेज पब्लिकेशनः 25–36

2. पाम दत्त रजनी (1949), इंडिया टुडे, मुंबईः पीपलस पब्लिशिंग हाउस
3. कविराज, सुदीप्ता (1989), ''अ क्रिटिक ऑफ द पैसिव रेवोलुशन'', इकनोमिक एण्ड पोलिटिकल वीकली, XXIII (45–7).
4. विनायक, अचिन (1990), द पेनफुल ट्रांजीशनः बुर्जुवा डेमोक्रेसी इन इंडिया, वर्सोः लन्दन
5. चंद्रा, बिपन (2003), इन द नाम ऑफ डेमोक्रेसीः जे पी मूवमेंट एण्ड द इमरजैंसी, पेंगुइनः न्यू डेल्ही
6. हेल्ड, डेविड (1988), पोलिटिकल थ्योरी एण्ड मॉडर्न स्टेट, ऑक्सफोर्डः पोलिटी प्रेस
7. बर्न एमिली (2012), व्हाट इस मर्क्सिस्म?, दिल्लीः पीपल स पब्लिशिंग हाउस
8. बोत्तोमोरे टॉम इत अल (एडिटेड) (1991), डिक्शनरी ऑफ मार्क्सिस्ट थॉट, दिल्लीः ब्लैकवेल पब्लिशर्स
9. चत्तेर्जी पार्था (2010), ''द स्टेट'' इन नीरजा गोपाल जयल एण्ड प्रताप भानु मेंहता (सम्पादित) द ऑक्सफोर्ड कम्पैनियन टू पॉलिटिक्स इन इंडिया, न्यू दिल्लीः ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस
10. गुहा रामचंद्र (2012) मेंकर्स ऑफ मॉडर्न इंडिया, नयी दिल्लीः पेंगुइन
11. कोठारी रजनी (1970), कास्ट एण्ड इंडियन पॉलिटिक्स, नयी दिल्लीः ओरिएंट लोग्मन
12. रूडोल्फ ल्योड एण्ड सुसाने रूडोल्फ (1976), द मॉडर्निटी ऑफ ट्रेडिशनः पोलिटिकल डेवलपमेंट इन इंडिया, शिकागोंः यूनिवर्सिटी ऑफ शिकागो प्रेस
13. नेहरू, जवाहरलाल (2004), द डिस्कवरी ऑफ इंडिया, नयी दिल्लीः पेंगुइन
14. बेरी, नॉर्मन पी (1989) आधुनिक राजनीतिक सिद्धांत का परिचय लंदन, मैकमिलन,
15. एम.बी.हास और एच.एस.कैरियल (1970) राजनीति विज्ञान, न्यूयॉर्क, चांडलर, के अध्ययन के लिए दृष्टिकोण
16. बॉल, एलन आर (1998) आधुनिक राजनीति और सरकार, लंदन, मैकमिलन
17. हसन जोया (2009) राजनीति और भारत में राज्य, दिल्ली, ऋषि,
18. एल्स्टर, जॉन (1986) कार्ल मार्क्स का परिचय, कैम्ब्रिज, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस,
19. हॉबहाउस, एल.टी. (1964) लिबरलिज्म न्यूयॉर्क, ऑक्सफोर्ड, यूनिवर्सिटी प्रेस,
20. पारेख, भीखू (1996) गांधी के राजनीतिक दर्शन, दिल्ली, अजंता,
21. क्रिक, बर्नार्ड (1987) सोशलिस्ट, मिल्टन केन्स, ओपन यूनिवर्सिटी प्रेस
22. फाडिया, बी.एल.(2007) भारतीय सरकार और राजनीति, साहित्य भवन प्रकाशन, आगरा,
23. चटर्जी पार्थ (1997) भारत में राज्य और राजनीति, दिल्ली, ओयूपी,